जैन-धर्म का त्रिविध साधनामार्ग

डॉ. सागरमल जैन,
पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी...

जैन-दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति के लिए त्रिविध साधनामार्ग बताया गया है। तत्त्वार्थ सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र को मोक्षमार्ग कहा गया है।[१] उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र और सम्यक् तप ऐसे चतुर्विध मोक्षमार्ग का भी विधान है[२], किन्तु जैन आचार्यों ने तप का अंतर्भाव चारित्र में करके इस त्रिविध साधनामार्ग को ही मान्य किया है।

त्रिविध साधनामार्ग ही क्यों?

संभवतः यह प्रश्न हो सकता है कि त्रिविध साधनामार्ग का ही विधान क्यों किया गया है? वस्तुतः त्रिविध साधनामार्ग के विधान में जैन आचार्यों की एक गहन मनोवैज्ञानिक सूझ रही है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानवीय चेतना के तीन पहलू माने गए हैं--१. ज्ञान, २. भाव और ३. संकल्प। चेतना के इन तीनों पक्षों के विकास के लिए त्रिविध साधनामार्ग के विधान का प्रावधान किया गया है। चेतना के भावात्मक पक्ष को सही दिशा में नियोजित करने के लिए सम्यक् दर्शन, ज्ञानात्मक पक्ष के सही दिशा में नियोजन के लिए ज्ञान और संकल्पात्मक पक्ष के सही दिशा में नियोजन के लिए सम्यक् चारित्र का प्रावधान किया गया है।

अन्य दर्शनों में त्रिविध साधनामार्ग

जैन-दर्शन के समान ही बौद्ध-दर्शन में भी त्रिविध साधनामार्ग का विधान है। बौद्ध-दर्शन का अष्टांग मार्ग भी त्रिविध साधनामार्ग में ही अंतर्भूत है। बौद्ध दर्शन के इस त्रिविध साधनामार्ग के तीन अंग हैं- १ शील, २. समाधि और ३. प्रज्ञा। वस्तुतः बौद्ध-दर्शन का यह त्रिविध साधनामार्ग जैन-दर्शन के त्रिविध साधनामार्ग का समानार्थक ही है। तुलनात्मक दृष्टि से शील को सम्यक् चरित्र से, समाधि को सम्यक् दर्शन से और प्रज्ञा को सम्यक् ज्ञान से तुलनीय माना जाता है। सम्यक् दर्शन समाधि से इसलिए तुलनीय है कि दोनों में चित्त विकल्प नहीं होते हैं।

गीता में भी ज्ञान, कर्म और भक्ति के रूप में त्रिविध साधनामार्ग का उल्लेख है। हिन्दू-धर्म में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग भी त्रिविध साधनामार्ग का ही एक रूप है। हिन्दू परंपरा में परम सत्ता के तीन पक्ष, सत्य, सुंदर और शिव माने गए हैं। इन तीनों पक्षों की उपलब्धि के लिए ही उन्होंने भी त्रिविध साधनामार्ग का विधान किया है। सत्य की उपलब्धि के लिए ज्ञान, सुंदर की उपलब्धि के लिए भाव या श्रद्धा और शिव की उपलब्धि के लिए सेवा या कर्म माने गए हैं। गीता में प्रसंगान्तर से त्रिविध साधनामार्ग के रूप में प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवा का भी उल्लेख है।[४] इनमें प्रणिपात श्रद्धा का परिप्रश्न ज्ञान का और सेवा कर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपनिषदों में श्रवण, मनन और निदिध्यासन के रूप में भी त्रिविध साधनामार्ग का प्रस्तुतीकरण हुआ है। यदि हम गहराई से देखें तो इनमें श्रवण श्रद्धा के, मनन ज्ञान और निदिध्यासन कर्म के अंतर्भूत हो सकते हैं।

पाश्चात्य परंपरा में भी तीन नैतिक आदेश उपलब्ध होते हैं--१. स्वयं को जानो (Know Thyself), २. स्वयं को स्वीकारो (Accept Thyself) और ३. स्वयं ही बन जाओ (Be Thyself)[५] पाश्चात्य चिंतन के ये तीन नैतिक आदेश ज्ञान, दर्शन और चारित्र के ही समकक्ष हैं। आत्मज्ञान में ज्ञान का तत्त्व, आत्मस्वीकृति में श्रद्धा का तत्त्व और आत्मनिर्माण में चरित्र का तत्त्व उपस्थित है।

जैनदर्शन	बौद्धदर्शन	गीता	उपनिषद्	पाश्चात्य दर्शन
सम्यक् ज्ञान	प्रज्ञा	ज्ञान,परिप्रश्न	मनन	Know Thyself
सम्यक् दर्शन	समाधि	श्रद्धा,प्रणिपात	श्रवण	Accept Thyself
सम्यक् चारित्र	शील	कर्म,सेवा	निदिध्यासन	Be Thyself

त्रिविध साधनामार्ग और मुक्ति

कुछ भारतीय विचारकों ने इस त्रिविध साधनामार्ग के किसी एक ही पक्ष को मोक्ष की प्राप्ति का साधन मान लिया है। आचार्य शंकर मात्र ज्ञान से और रामानुज मात्र भक्ति से मुक्ति की संभावना को स्वीकार करते हैं। लेकिन जैन दार्शनिक ऐसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किसी एकान्तवादिता में नहीं पड़ते हैं। उनके अनुसार तो ज्ञान, कर्म और भक्ति की समवेत साधना ही मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग है। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के अभाव में आचरण सम्यक् नहीं होता है और सम्यक् आचरण के अभाव में मुक्ति भी नहीं होती है। इस प्रकार मुक्ति की प्राप्ति के लिए तीनों ही अंगों का होना आवश्यक है।[६]

सम्यक् दर्शन का अर्थ

जैन-आगमों में दर्शन शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और इसके अर्थ के संबंध में जैन-परंपरा में काफी विवाद रहा है। दर्शन शब्द को ज्ञान से अलग करते हुए विचारकों ने दर्शन को अन्तर्बोध या प्रज्ञा और ज्ञान को बौद्धिक ज्ञान कहा है।[७] नैतिक जीवन की दृष्टि से दर्शन शब्द का दृष्टिकोणपरक अर्थ भी लिया गया है।[८] दर्शन शब्द के स्थान पर दृष्टि शब्द का प्रयोग दृष्टिकोणपरक अर्थ का द्योतक है। जैन-आगमों में दर्शन शब्द का एक अर्थ तत्त्व श्रद्धा भी माना गया है। परवर्ती जैन-साहित्य में दर्शन शब्द को देव गुरु और धर्म के प्रति श्रद्धा या भक्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है।[१०] इस प्रकार जैन-परंपरा में सम्यक् दर्शन तत्त्व-साक्षात्कार, आत्मसाक्षात्कार, अंतर्बोध, दृष्टिकोण, श्रद्धा और भक्ति आदि अनेक अर्थों को अपने में समेटे हुए है।

सम्यक् दर्शन शब्द के इन विभिन्न अर्थों पर विचार करने से पहले हमें यह देखना होगा कि इनमें से कौन सा अर्थ ऐतिहासिक दृष्टि से प्रथम था और किन-किन ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण यही शब्द अपने दूसरे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रथमतः हम यह देखते हैं कि बुद्ध और महावीर के युग में प्रत्येक धर्मप्रवर्तक अपने सिद्धान्त को सम्यक् दृष्टि और दूसरे के सिद्धान्त को मिथ्या दृष्टि कहता था, लेकिन यहाँ पर मिथ्या दृष्टि शब्द मिथ्या श्रद्धा के अर्थ में नहीं वरन् गलत दृष्टिकोण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। जीवन और जगत् के संबंध में अपने से भिन्न दूसरों के दृष्टिकोणों को ही मिथ्या दर्शन कहा जाता है। प्रत्येक धर्मप्रवर्तक आत्मा और जगत् के स्वरूप के विषय में अपने दृष्टिकोण को सम्यक् दृष्टि और अपने विरोधी के दृष्टिकोण को मिथ्या दृष्टि कहता है। सम्यक् दर्शन शब्द अपने दृष्टिकोण के अर्थ के बाद तत्त्वार्थ-श्रद्धान के अर्थ में भी अभिरूढ़ हुआ। तत्त्वार्थ-श्रद्धान के अर्थ में भी सम्यक् दर्शन शब्द अपने मूल अर्थ से अधिक दूर नहीं हुआ था, यद्यपि उसकी दिशा बदल चुकी थी। उसमें श्रद्धा का तत्त्व प्रतिष्ठित हो गया था। यद्यपि यह श्रद्धा तत्व के स्वरूप की मान्यता के सन्दर्भ में ही थी। वैयक्तिक श्रद्धा का विकास बाद की बात थी। यह श्रद्धा बौद्धिक श्रद्धा थी। लेकिन जैसे भागवत सम्प्रदाय का विकास हुआ उसका प्रभाव श्रमण परंपराओं पर भी पड़ा। तत्त्वार्थ श्रद्धा अब बुद्ध और जिन पर केन्द्रित होने लगी। वह ज्ञानात्मक से भावात्मक और निर्वैयक्तिक से वैयक्तिक बन गई। जिसने जैन और बौद्ध-परंपराओं में भक्ति के तत्त्व का वपन किया। यद्यपि यह सब कुछ आगम एवं पिटक-ग्रंथों के संकलन एवं उनके लिपिबद्ध होने तक हो चुका था। फिर भी हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि सम्यक् दर्शन का दृष्टिकोणपरक अर्थ भाषाशास्त्रीय विश्लेषण की दृष्टि से उसका प्रथम एवं मूल अर्थ है। तत्त्व-श्रद्धापरक अर्थ एक परवर्ती अर्थ है। यद्यपि ये परस्पर विपरीत नहीं हैं। आध्यात्मिक साधना के लिए दृष्टिकोण की यथार्थता अर्थात् राग-द्वेष से पूर्ण विमुक्त दृष्टि का होना आवश्यक है, किन्तु साधक अवस्था में राग द्वेष से पूर्ण विमुक्ति संभव नहीं है। अतः जब तक वीतराग दृष्टि या यथार्थ दृष्टि उपलब्ध नहीं होती तब तक वीतराग के वचनों पर श्रद्धा आवश्यक है।

सम्यक् दर्शन को चाहे यथार्थ दृष्टि कह या तत्त्वार्थ श्रद्धान उसमें वास्तविकता की दृष्टि से अधिक अंतर नहीं होता है। अंतर होता है उनकी उपलब्धि की विधि में। एक वैज्ञानिक स्वतः प्रयोग के आधार पर किसी सत्य का उद्घाटन कर वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है किन्तु दूसरा व्यक्ति ऐसे वैज्ञानिक के कथनों पर विश्वास करके भी वस्तुतत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जानता है। यद्यपि यहाँ दोनों का ही दृष्टिकोण यथार्थ होगा, फिर भी एक ने उसे स्वानुभूति में पाया है, दूसरे ने उसे श्रद्धा के माध्यम से। एक ने तत्त्व-साक्षात्कार किया है तो दूसरे ने तत्त्व श्रद्धा। फिर भी हमें यह मान लेना चाहिए कि तत्त्व-श्रद्धा मात्र उस समय तक के लिए एक अनिवार्य विषय है; जब तक कि तत्त्व साक्षात्कार नहीं होता। पंडित सुखलालजी के शब्दों में तत्त्व-श्रद्धा ही सम्यक् दृष्टि हो तो भी वह अर्थ अन्तिम नहीं है, अन्तिम अर्थ तत्त्व साक्षात्कार या स्वानुभूति ही है और यही सम्यक् दर्शन का वास्तविक अर्थ है।।[११]

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्यक् ज्ञान का अर्थ

ज्ञान को मुक्ति का साधन स्वीकार किया गया है, लेकिन कौन सा ज्ञान मुक्ति के लिए आवश्यक है, यह विचारणीय है। जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान के दो रूप पाए जाते हैं। सामान्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान अनेकान्त या वैचारिक अनाग्रह है और इस रूप में वह विचार शुद्धि का माध्यम है। जैन दर्शन के अनुसार एकान्त मिथ्यात्व है क्योंकि वह सत्य के अनन्त पक्षों का अपलाप करता है। एकान्त या आग्रह की उपस्थिति में व्यक्ति सत्य को सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकता है। जब तक आग्रह बुद्धि है तब तक वीतरागता संभव ही नहीं है और जब तक वीतराग दृष्टि नहीं है तब तक यथार्थ ज्ञान भी असंभव है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य के अनंत पहलुओं को जानने के लिए अनेकान्त दृष्टि सम्यक ज्ञान है। एकान्त दृष्टि या वैचारिक आग्रह अपने में निहित छद्म राग के कारण सत्य को रंगीन कर देता है इस प्रकार एकान्त या आग्रह सत्य के साक्षात्कार में बाधक है। परम सत्य को अपने संपूर्ण रूप से आग्रह बुद्धि नहीं देख सकती। जब तक आंखों पर राग, द्वेष, आसक्ति या आग्रह का रंगीन चश्मा है, अनावृत्त सत्य का साक्षात्कार संभव नहीं है। वैचारिक आग्रह न केवल व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास को कुण्ठित करता है, वरन् सामाजिक जीवन में भी विग्रह और वैमनस्य के बीज बो देता है। सम्यक् ज्ञान एक अनाग्रही दृष्टि है। वह उस भ्रांति का भी निराकरण करता है कि सत्य मेरे ही पास है, वरन् वह हमें बताता है कि सत्य हमारे पास भी हो सकता है और दूसरों के पास भी। सत्य न मेरा है न पराया, जो भी उसे मेरा और पराया करके देखता है वह उसे ठीक प्रकार से समझ ही नहीं सकता। सूत्रकृतांग में कहा गया है कि जो अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मत की निंदा करने में अपना पांडित्य दिखाते हैं वे एकान्तवादी संसार चक्र में भटकते फिरते हैं।[१२] अतः जैन साधना की दृष्टि से वीतरागता को उपलब्ध करने के लिए वैचारिक आग्रह का परित्याग और अनाग्रही दृष्टि का निर्माण आवश्यक है और यही सम्यक् ज्ञान भी है।

एक अन्य दृष्टि से सम्यक् ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। यह सही है कि आत्मतत्त्व को ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता है, उसे ज्ञाता ज्ञेय के द्वैत के आधार पर नहीं जाना जा सकता है क्योंकि वह स्वयम् ज्ञान स्वरूप है, ज्ञाता है और ज्ञाता ज्ञेय नहीं बन सकता, लेकिन अनात्म तत्व तो ऐसा है जिसे हम ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत के आधार पर जान सकते हैं। सामान्य व्यक्ति भी अपने साधारण जान के द्वारा इतना तो ज्ञान ही सकता है कि उसके ज्ञान के विषय क्या हैं? और जो उसके ज्ञान के विषय हैं वे उसके स्वस्वरूप नहीं हैं, वे अनात्म हैं। सम्यक् ज्ञान आत्मज्ञान है, किन्तु आत्मा को अनात्म के माध्यम से ही पहचाना जा सकता है। अनात्म के स्वरूप को जानकर अनात्म से आत्म का भेद करना यही भेद विज्ञान है और यही जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान का मूल अर्थ है।

इस प्रकार जैन दर्शन में सम्यक् ज्ञान आत्म-अनात्म का विवेक है। आचार्य अमृतचंद्रसूरि के अनुसार जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस आत्म-अनात्म के विवेक या भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो बंधन में है, वे इसके अभाव के कारण ही हैं।[१३] आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में इस भेद विज्ञान का अत्यंत गहन विवेचन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द का यह विवेचन अनेक बार हमें बौद्ध त्रिपिटकों की याद दिला देता है जिसमें अनात्म का विवेचन इतनी ही अधिक गंभीरता से किया गया है।[१४]

सम्यक् चारित्र का अर्थ

जैन परंपरा में सम्यक् चारित्र के दो रूप माने गए हैं - १- व्यवहार और २. निश्चय चरित्र। आचरण का बाह्य पक्ष या आचरण के विधि विधान व्यवहार चरित्र कहे जाते हैं। जबकि आचरण की अन्तरात्मा निश्चय चरित्र कही जाती है। जहाँ तक नैतिकता के वैयक्तिक दृष्टिकोण का प्रश्न है अथवा व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास का प्रश्न है, निश्चयात्मक चारित्र ही उसका मूलभूत आधार है। लेकिन जहाँ तक सामाजिक जीवन का प्रश्न है चारित्र का बाह्य पक्ष ही प्रमुख है।

निश्चय दृष्टि से चारित्र--निश्चयदृष्टि से चारित्र का सच्चा अर्थ समभाव या समत्व की उपलब्धि है।[१५] मानसिक या चैत्तिसिक जीवन में समत्व की उपलब्धि ही चारित्र का पारमार्थिक या नैश्चयिक पक्ष है। वस्तुतः चारित्र का यह पक्ष आत्म-स्मरण की स्थिति है। नैश्चयिक चारित्र का प्रादुर्भाव केवल अप्रमत्त अवस्था में ही होता है। अप्रमत्त चेतना की अवस्था में होने वाले सभी कार्य शुद्ध ही माने गए हैं। चेतना में राग, द्वेष, कषाय और वासनाओं की अग्नि पूरी तरह शान्त हो जाती तभी सच्चे नैतिक

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवम् धार्मिक जीवन का उद्भव होता है और ऐसा ही सदाचार मोक्ष का कारण होता है। अप्रमत्त चेतना जो कि नैश्चयिक चारित्र का आधार है। राग, द्वेष, कषाय, विषय वासना, आलस्य और निद्रा से रहित अवस्था है। साधक जब जीवन की प्रत्येक क्रिया के सम्पादन में आत्म-जाग्रत होता है, उसका आचरण बाह्य आवेगों और वासनाओं से चालित नहीं होता है तभी वह सच्चे अर्थों में नैश्चयिक चारित्र का पालनकर्ता माना जाता है। यही नैश्चयिक चारित्र मुक्ति का सोपान कहा गया है।

व्यवहार चारित्र--व्यवहार चारित्र का संबंध हमारे मन, वचन और कर्म की शुद्धि तथा उस शुद्धि के कारणभूत नियमों से है। सामान्यतया व्यवहार चारित्र में पंच महाव्रत, तीन गुप्ति, पंच समिति आदि का समावेश है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान का पूर्वापर सम्बन्ध-

ज्ञान और दर्शन की पूर्वापरता को लेकर जैन विचारणा में काफी विवाद रहा है। कुछ आचार्य दर्शन को प्राथमिक मानते हैं तो कुछ ज्ञान को, कुछ ने दोनों का यौगपद्य (समानान्तरता) स्वीकार किया है। आचार मीमांसा की दृष्टि से दर्शन की प्राथमिकता का प्रश्न ही प्रबल रहा है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता।[१६] इस प्रकार ज्ञान की अपेक्षा दर्शन को प्राथमिकता दी गई है। तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामी ने भी अपने ग्रन्थ में दर्शन को ज्ञान और चरित्र के पहले स्थान दिया है।[१७] आचार्य कुन्दकुन्द दर्शन पाहुड में कहते हैं कि धर्म (साधनामार्ग) दर्शनप्रधान है।[१८]

लेकिन दूसरी ओर कुछ सन्दर्भ ऐसे भी हैं जिनमें ज्ञान की प्राथमिकता भी देखने को मिलती है। उत्तराध्ययन सूत्र में उसी अध्याय में मोक्षमार्ग की विवेचना में जो क्रम है उसमें ज्ञान का स्थान प्रथम है। वस्तुतः इस विवाद में कोई ऐकान्तिक निर्णय लेना अनुचित ही होगा।

हमारे अपने दृष्टिकोण में इनमें से किसे प्रथम स्थान दिया जाए इसका निर्णय करने के पूर्व हमें दर्शन शब्द का क्या अर्थ है, इसका निश्चय कर लेना चाहिए। दर्शन शब्द के दो अर्थ हैं-- १. यथार्थ दृष्टिकोण और २. श्रद्धा। यदि हम दर्शन का यथार्थ दृष्टिकोणपरक अर्थ लेते हैं तो हमें साधनामार्ग की दृष्टि से उसे प्रथम स्थान देना चाहिए। क्योंकि यदि व्यक्ति का दृष्टिकोण ही मिथ्या है, अयथार्थ है तो, न तो उसका ज्ञान सम्यक् (यथार्थ) होगा और न चारित्र ही। यथार्थ दृष्टि के अभाव में यदि ज्ञान और चारित्र सम्यक् प्रतीत भी हों तो भी वे सम्यक् नहीं कहे जा सकते, वह तो संयोगिक प्रसंग मात्र है, ऐसा साधक भी दिग्भ्रांत हो सकता है। जिसकी दृष्टि ही दूषित है, वह क्या सत्य को जानेगा और क्या उसका समाचरण करेगा? दूसरी ओर यदि हम सम्यक् दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ लेते हैं तो उसे ज्ञान के पश्चात् ही स्थान देना चाहिए। क्योंकि अविचल श्रद्धा तो ज्ञान के बाद ही उत्पन्न हो सकती है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी दर्शन का श्रद्धापरक अर्थ करते समय ज्ञान के बाद ही स्थान दिया गया है ग्रन्थकार कहते हैं कि ज्ञान से पदार्थ (तत्त्व) स्वरूप को जानें और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करें।[१९] व्यक्ति के स्वानुभव (ज्ञान) के पश्चात् ही जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसमें जो स्थायित्व होता है, वह स्थायित्व ज्ञानाभाव में प्राप्त हुई श्रद्धा में नहीं हो सकता। ज्ञानाभाव में जो श्रद्धा होती है, उसमें संशय होने की संभावना हो सकती है ऐसी श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा नहीं वरन् अन्ध श्रद्धा ही हो सकती है। जिन-प्रणीत तत्त्वों में भी यथार्थ श्रद्धा तो उनके स्वानुभव एवम् तार्किक परीक्षण के पश्चात् हो सकती है। यद्यपि साधनामार्ग के आचरण के लिए श्रद्धा अनिवार्य तत्त्व है, लेकिन वह ज्ञानप्रसूत होना चाहिए। उत्तराध्ययनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "धर्म की समीक्षा प्रज्ञा के द्वारा करें, तर्क के तत्त्व का विश्लेषण करें।"[२०] इस प्रकार यथार्थ दृष्टिपरक अर्थ में सम्यक् दर्शन को ज्ञान के पूर्व लेना चाहिए और श्रद्धापरक अर्थ में ज्ञान के पश्चात्।

न केवल जैन-दर्शन में अपितु बौद्ध-दर्शन और गीता में भी ज्ञान और श्रद्धा के संबंध का प्रश्न बहुचर्चित रहा है। चाहे बुद्ध ने आत्मदीप एवम् आत्मशरण के स्वर्णिम सूत्र का उद्घोष किया हो, किन्तु बौद्ध-दर्शन में श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण स्थान सभी युगों में मान्य रहा है। सुत्तनिपात में आलवक यक्ष के प्रति स्वयं बुद्ध कहते हैं मनुष्य का श्रेष्ठ धन श्रद्धा है।[२१] गीता में भी श्रद्धा या भक्ति एक प्रमुख तथ्य है मात्र इतना ही नहीं, अपितु गीता और बौद्ध दर्शन दोनों में ही ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें ज्ञान के पूर्व श्रद्धा को स्थान दिया गया है। ज्ञान की उपलब्धि के साधन के रूप में श्रद्धा को स्वीकार करके बुद्ध गीता की विचारणा के अत्यधिक निकट आ जाते हैं। गीता के समान ही बुद्ध सुत्तनिपात में आलवक यक्ष से कहते हैं निर्वाण की ओर ले जाने वाले अर्हतों के धर्म में श्रद्धा रखने वाला अप्रमत्त और विचक्षण पुरुष प्रज्ञा को प्राप्त

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है। 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं' और 'सद्दहानो लभते पञ्ञा' का शब्दसाम्य दोनों आचार-दर्शनों में निकटता देखने वाले विद्वानों के लिए विशेष रूप से द्रष्टव्य है।[२२] लेकिन यदि हम श्रद्धा को आस्था के अर्थ में ग्रहण करते हैं तो बुद्ध की दृष्टि में प्रज्ञा प्रथम है और श्रद्धा द्वितीय स्थान पर। संयुक्त निकाय में बुद्ध कहते हैं श्रद्धा पुरुष की साथी है और प्रज्ञा उस पर नियंत्रण करती है।[२३] इस प्रकार श्रद्धा पर विवेक का स्थान स्वीकार किया गया है। बुद्ध कहते हैं 'श्रद्धा से ज्ञान बड़ा है।'[२४] लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि बुद्ध मानवीय प्रज्ञा को श्रद्धा से पूर्णतया निर्मुक्त कर देते हैं। बुद्ध की दृष्टि में ज्ञान-विहीन श्रद्धा मनुष्य के स्वविवेक रूपी चक्षु को समाप्त कर उसे अंधा बना देती है और श्रद्धाविहीन ज्ञान मनुष्य को संशय और तर्क के मरुस्थल में भटका देता है। इस मानवीय प्रकृति का विश्लेषण करते हुए विसुद्धिमग्ग में कहा गया है कि बलवान श्रद्धावाला किन्तु मन्द प्रज्ञावाला व्यक्ति बिना सोचे समझे हर कहीं विश्वास कर लेता है और बलवान प्रज्ञा किन्तु मन्द श्रद्धावाला व्यक्ति कुतार्किक (धूर्त) हो जाता है। वह औषधि से उत्पन्न होने वाले रोग के समान ही असाध्य होता है।[२५] इस प्रकार बुद्ध श्रद्धा और विवेक के मध्य एक समन्वयवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। जहाँ तक गीता का प्रश्न है निश्चय ही उसमें ज्ञान की अपेक्षा श्रद्धा की ही प्राथमिकता सिद्ध होती है, क्योंकि गीता में श्रद्धेय को इतना समर्थ माना गया है कि वह अपने उपासक के हृदय में ज्ञान की आभा को प्रकाशित कर सकता है।

सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र का पूर्वापर सम्बन्ध -

चरित्र और ज्ञान दर्शन के संबंध की पूर्वापरता को लेकर जैन-विचारणा में कोई विवाद नहीं है। जैन आगमों में चारित्र से दर्शन की प्राथमिकता बताते हुए कहा गया है कि सम्यक् दर्शन के अभाव में सम्यक् चरित्र नहीं होता। भक्त-परिज्ञा में कहा गया है कि दर्शन से भ्रष्ट (पतित) ही वास्तविक रूप में भ्रष्ट है, चरित्र से भ्रष्ट भ्रष्ट नहीं है, क्योंकि जो दर्शन से युक्त है वह संसार में अधिक परिभ्रमण नहीं करता जबकि दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति संसार से मुक्त नहीं होता है। कदाचित् चरित्र से रहित सिद्ध भी हो जाए लेकिन दर्शन से रहित कभी भी मुक्त नहीं होता।[२६] वस्तुतः दृष्टिकोण या श्रद्धा ही एक ऐसा तत्त्व है जो व्यक्ति के ज्ञान और आचरण को सही दिशा - निर्देश दे सकता है। मध्ययुग के जैन आचार्य भद्रबाहु आचारांगनिर्युक्ति में कहते हैं कि सम्यक् दृष्टि से ही तप, ज्ञान और सदाचरण सफल होते हैं।[२७] आध्यात्मिक संत आनन्दघनजी दर्शन की महत्ता को सिद्ध करते हुए अनन्त जिन-स्तवन में कहते हैं -

शुद्ध श्रद्धा बिना सर्व किरिया करी,
छार (राख) पर लीपणुं तेह जाणो रे

सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र की पूर्वापरता

जहाँ तक ज्ञान और चरित्र का संबंध है, जैन-विचारकों ने चरित्र को ज्ञान के बाद ही स्थान दिया है। दशवैकालिक-सूत्र में कहा गया है कि जो जीव और अजीव के स्वरूप को नहीं जानता ऐसा जीव और अजीव के विषय में अज्ञानी साधक क्या धर्म (संयम) का आचरण करेगा?[२८] उत्तराध्ययन-सूत्र में भी यही बताया गया है कि सम्यक् ज्ञान के अभाव में सदाचरण नहीं होता।[२९] इस प्रकार जैन-दर्शन में आचरण के पूर्व सम्यक् ज्ञान का होना आवश्यक है फिर भी वे यह स्वीकार नहीं करते हैं कि अकेला ज्ञान ही मुक्ति का साधन हो सकता है। यद्यपि आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ज्ञान की चरित्र से पूर्वता को सिद्ध करते हुए एक चरम सीमा का स्पर्श कर लेते हैं वे अपनी समयसार टीका में लिखते हैं कि ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से अज्ञानियों में अंतरंग व्रत, नियम, सदाचरण और तपस्या आदि की उपस्थिति होते हुए भी मोक्ष का अभाव है। क्योंकि अज्ञान ही बंध का हेतु है।[३०] इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र बहुत कुछ रूप में ज्ञान को प्रमुख मान लेते हैं। उनका यह दृष्टिकोण जैन-दर्शन को शंकराचार्य के निकट खड़ा कर देता है। फिर भी यह मानना कि जैन-दृष्टि में ज्ञान ही मात्र मुक्ति का साधन है जैन-विचारणा के मौलिक मन्तव्य से दूर होना है। साधना-मार्ग में ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित साधना पथ का उपदेश दिया गया है। सूत्रकृतांग में महावीर कहते हैं कि मनुष्य चाहे वह ब्राह्मण हो, भिक्षुक हो अथवा अनेक शास्त्रों का जानकार हो यदि उसका आचरण अच्छा नहीं है तो वह अपने कृत्य कर्मों के कारण दुःखी ही होगा।[३१] उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि अनेक भाषाओं एवं शास्त्रों का ज्ञान आत्मा को शरणभूत नहीं होता। दूराचरण में अनुरक्त अपने आपको पंडित मानने वाले लोग वस्तुतः मूर्ख ही हैं। वे केवल वचनों से ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपनी आत्मा को आश्वासन देते हैं [३२]। आवश्यकनिर्युक्ति में ज्ञान और आचरण के पारस्परिक संबंध का विवेचन अत्यंत विस्तृत रूप से किया गया है। आचार्य भद्रबाहु कहते हैं कि आचरणविहीन अनेक शास्त्रों के ज्ञाता भी संसारसमुद्र से पार नहीं होते। ज्ञान और क्रिया के पारस्परिक संबंध को लोक प्रसिद्ध अंध-पंगु न्याय के आधार पर स्पष्ट करते हुए आचार्य लिखते हैं कि जिस प्रकार एक चक्र से रथ नहीं चलता है या अकेला अंधा अथवा अकेला पंगु इच्छित साध्य को नहीं पहुंचते वैसे ही मात्र ज्ञान अथवा मात्र क्रिया से मुक्ति नहीं होती, अपितु दोनों के सहयोग से ही मुक्ति होती है।[३३] जैन-दर्शन का यह दृष्टिकोण हमें उपनिषद् और बौद्ध-परंपरा में भी प्राप्त होता है। बुद्ध कहते हैं 'जो ज्ञान और आचरण दोनों से समन्वित है वही देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है।' [३४]

उद्धरण

1. तत्त्वार्थसूत्र 1/1
2. उत्तराध्ययनसूत्र 28/2
3. सुत्तनिपात 28/8
4. गीता 4/34, 4/39
5. Psychology and Morals, P.180
6. उत्तराध्ययन 28/30
7. Some problems of jain psychology P. 32
8. अभिधानराजेन्द्र कोष खंड 5, पृ. 2425
9. तत्त्वार्थ 1/2, उत्तराध्ययन 28/35
10. सामायिकसूत्र-सम्यक्त्व पाठ
11. जैनधर्म का प्राण पृ. 24
12. सूत्रकृतांग 1/1/2/23
13. समयसारटीका 132
14. देखिये-समयसार 392-407
    नियमसार 75-81
    तुलनीय-संयुक्तनिकाय 34/1/1/1-12
15. प्रवचनसार 1/7, पंचास्तिकायसार 107
16. उत्तराध्ययन 28/30
17. तत्त्वार्थसूत्र 1/1
18. दर्शनपाहुड 2
19. उत्तराध्ययनसूत्र 28/35
20. उत्तराध्ययन 23/35
21. सुत्तनिपात 10/2
22. सुत्तनिपात 10/6, तुलनीयगीता 4/36
23. संयुक्तनिकाय 1/1/59
24. संयुक्तनिकाय 4/41/8
25. विसुद्धिमग्ग 4/47
26. भक्तपरिज्ञा 65-66
27. आचारांगनिर्युक्ति 221
28. दशवैकालिक 4/12
29. उत्तराध्ययन 28/30
30. समयसारटीका 153 तुलनीय-गीता, शांकरभाष्य, अध्याय 5 की पीठिका
31. सूत्रकृतांग 2/1/7
32. उत्तराध्ययन 6/9-11
33. आवश्यकनिर्युक्ति 95-102
    तुलनीय--नृसिंह पुराण 61/9/11
34. मज्झिमनिकाय 2/3/5

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org